अनेकान्तवाद (हरिभद्रसूरि विरचित अष्टक प्रकरण पर आधारित)

जितेन्द्र शाह

अनेकान्तवाद जैन धर्म का प्रमुख सिद्धान्त है । जहाँ अन्य दर्शन एक ही धर्म को प्रमुख मानकर चलते हैं वहाँ जैन धर्म-दर्शन वस्तु के अनेक धर्मों को स्वीकार करके उसकी सिद्धि करते है । यही जैन दर्शन की विशेषता है । जैन दर्शन के इस सिद्धान्त की चर्चा आगम ग्रंथों में यत्र तत्र प्राप्त होती है । किन्तु **सन्मतितर्क सूत्र** में सर्व प्रथम आचार्य सिद्धसेन ने एवं आचार्य समन्तभद्र ने **आप्तमीमांसा** आदि ग्रंथों में अनेकान्तवाद का युक्तियुक्त स्थापन किया है । इसीलिए पं० सुखलालजी आदि जैन मनीषी इस युग को अनेकान्त व्यवस्थापक युग कहकर पुकारते है। तत्पश्चात् आचार्य मल्लवादी एवं अकलंक एवं अन्य जैनाचार्यों ने अनेकान्तवाद की महत्ता को स्थापित करने वाले ग्रंथों की रचना की है । इस श्रेणि में आचार्य हरिभद्रसूरि का योगदान भी उल्लेखनीय है । उन्होंने अनेकान्त की स्थापना करने के लिए **अनेकान्तजयपताका** नामक ग्रंथ की रचना की है । कुछ अन्य ग्रंथों में भी अनेकान्तवाद का स्थापन किया गया है । और अन्य दर्शनों के एकान्तवाद की मर्यादाओं का कथन करके उसका सयुक्तिक खंडन किया है । अंत में अनेकान्तवाद का सयुक्तिक स्थापन भी किया है । आचार्य हरिभद्रसूरि के अन्य महत्त्वपूर्ण, दार्शनिक ग्रंथ **शास्त्रवार्त्तासमुच्चय, अनेकान्तवादप्रवेश, लोकतत्त्वनिर्णय, षट्दर्शनसमुच्चय** आदि हैं । दार्शनिक ग्रंथों में तो दर्शन के तत्त्वों की चर्चा उपलब्ध हो वह स्वाभाविक ही है किन्तु धार्मिक सिद्धान्तों के विषयों की चर्चा के अवसर पर भी दार्शनिक चर्चा यह आचार्य हरिभद्रसूरि की विशेषता है । उन्होंने **अष्टक** नामक ग्रंथ में भी अनेकान्तवाद की चर्चा की है । वस्तुतया **अष्टक** ग्रंथ के अन्तर्गत प्रस्तुत अनेकान्त की चर्चा को ही निबन्ध का विषय बनाया है ।

अष्टक प्रकरण :–

आचार्य हरिभद्रसूरि ने जिस प्रकार दर्शन के मूर्धन्य ग्रंथों की रचना की है उसी प्रकार जैन सिद्धान्तों की चर्चा करने वाले उच्च कोटि के ग्रंथों की रचना की है । जिसमें **पंचाशक, षोडशक, अष्टक** आदि प्रमुख हैं । **अष्टक** लघुकाय प्रकरण ग्रंथ है । उसमें उन्होंने संस्कृत भाषा में ३२ विषयों के ऊपर सरल एवं सुबोध शैली में आठ आठ कारिकाओं की रचना की है । इन अष्टकों में आचारशास्त्र की एवं धर्मशास्त्र की समस्या जैसे महादेव का स्वरूप, स्नान, पूजा, हवन, भिक्षा, भोजन, ज्ञान, वैराग्य, तप, मांसभक्षण, मैथुन, पुण्य, तीर्थंकर, मोक्ष आदि तत्त्वों पर सूक्ष्म एवं गहन चिन्तन अपनी विशिष्ट शैली के आधार पर किया गया है । के० के० दीक्षित के अनुसार प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत में उन उन आचारशास्त्रीय मान्यताओं का प्रतिपादन तथा प्रचार उन उन धर्मशास्त्रीय परंपराओं के माध्यम से हुआ करता था[१] । अतः हरिभद्रसूरि ने भी उन्हीं को अपने ग्रंथ का विषय बनाया है । उन सभी विषय का संबंध मुख्य अथवा गौण रूप से मोक्ष के साथ स्थापित किया गया है । मोक्षप्राप्ति ही भारतीय दर्शनों का मुख्य लक्ष्य रहा है । यहाँ भी हरिभद्र ने सभी अष्टकों के विषयों का अन्तिम सम्बन्ध मोक्षसाधन के साथ ही जोड़ा है । तथापि इन ३२ अष्टकों में १४-१५-१६ नंबर के तीन अष्टक अपवाद स्वरूप है । जिन का सम्बन्ध मोक्षसाधन से कम और दर्शनशास्त्र से अधिक है । ये तीन अष्टकों के नाम अनुक्रम से एकांगी नित्यत्ववाद-खंडन अष्टक, एकान्त अनित्यत्ववाद खंडन अष्टक एवं नित्यानित्यत्ववाद समर्थन अष्टक है । प्रस्तुत अष्टकों के नाम से ही उनके विषय सुस्पष्ट है । भारतीय दार्शनिक परंपरा में वस्तु के स्वरूप के विषय में प्राचीन काल से ही चर्चा रही है कि वह नित्य है या अनित्य ? एकान्तवादी दर्शन पदार्थ को नित्य अथवा अनित्य मानते है किन्तु जैन दर्शन वस्तु को उभयात्मक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानता है। यह एक विशुद्ध दार्शनिक विषय है तथापि टीकाकार सूरि ने उसका सम्बन्ध धर्मसाधन से स्थापित किया है। के० के० दीक्षित भी मानते है कि इन अष्टकों का भी आचारशास्त्रीय तथा धर्मशास्त्रीय समस्याओं से दूर का सम्बन्ध नहीं है क्योंकि इनकी सहायता से भी आचार्य हरिभद्र ने कतिपय आचारशास्त्रीय तथा धर्मशास्त्रीय मान्यताओं का ही पुष्ट–पोषण करना चाहा है[२]। यह सत्य है कि आचार्य हरिभद्रसूरि ने १६ अष्टक में जैन दर्शन सम्मत अनेकान्तवाद का ही स्थापन किया है, तथापि समग्रतया **अष्टक** के अध्ययन से आचार्य श्री की उदात्त आचरण की आवश्यकता एवं परमत सहिष्णुता ही द्योतित होती है जो अन्यत्र दुर्लभ ही है।

अनेकान्तवाद :—

जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। आगमिक काल में विभज्जवाद और स्यात् जैसे शब्द प्रचलित थे। बाद में अनेकान्तवाद ही प्रचलित हो गया। अनेकान्तवाद का अर्थ है प्रत्येक पदार्थ में अनन्त धर्म मौजूद है। एक ही पदार्थ में नित्य, अनित्य, वाच्य, अवाच्य, सामान्य, विशेष, सत्, असत् आदि विरोधी धर्म भी उपलब्ध होते है। जब कि जैन दर्शन से भिन्न अन्य दर्शन एकान्तवादी है जो पदार्थ को एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य, एकान्त सत् या एकान्त असत् मानते है। नैयायिक, वैशेषिक आदि पदार्थ को सर्वथा सत् एवं नित्य ही मानते है और बौद्ध पदार्थ को क्षणिक मानते है। एक शाश्वतवादी है, दूसरा उच्छेदवादी है। जैन दर्शन न तो शाश्वतवादी है, न ही उच्छेदवादी। वह दोनों धर्मों का स्वीकार करते है और दोनों को अपेक्षा से सिद्ध भी करते है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से पदार्थ नित्य है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से पदार्थ अनित्य है। व्यवहार में भी पदार्थ को अनेकान्त स्वरूप मानना आवश्यक है। उनके बिना व्यवहार ही नहीं चल सकता। इसीलिए आचार्य सिद्धसेन ने तो कहा ही है जिसके बिना इस जगत् का व्यवहार ही सर्वथा नहि चल सकता, उस जगद्‌गुरु अनेकान्तवाद को बारंवार नमस्कार हो[३]। इसी बात को आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने कुछ अन्य तरीके से कहा है कि प्रत्येक पदार्थ में अनन्त धर्म अस्तित्व रखते है। पदार्थ में अनन्त धर्म माने बिना वस्तु की सिद्धि ही नहीं होती[४]। इस प्रकार जैन दर्शनकारों ने पदार्थ में अनन्तधर्म का अस्तित्व माना है। पदार्थ को एकान्त मानने से अनेक आपत्ति आती है जिनका तर्कसंगत समाधान प्राप्त नहीं होता है। जब कि अनेकान्तवाद का स्वीकार करने पर कोई आपत्ति नहीं। जैसा कि ऊपर कहा गया है जीव और अजीव सभी तत्त्व अनन्त धर्मात्मक है। आ० हरिभद्र ने **अष्टक प्रकरण** में केवल आत्मतत्त्व को लेकर ही १४ और १५वे अष्टक में एकान्तवादीओं की मर्यादाओं का कथन किया है, उन मर्यादाओं का समाधान १६वे अष्टक में करके अनेकान्तवाद का स्थापन किया गया है।

एकान्त नित्यवाद :—

नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य एवं औपनिषदिक मतावलम्बी एकान्त नित्यवादी है। उनके मत में आत्मतत्त्व अनुत्पन्न, अप्रच्युत एवं स्थिरैक रूप अर्थात् आत्मतत्त्व कभी उत्पन्न नहीं हुआ, कभी नाश नहीं होता है और सर्वथा एकरूप ही रहनेवाला है। आत्मतत्त्व को एकान्तनित्य स्वरूप मानने पर हिंसा, अहिंसा, वध, विरति, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, जन्म, मृत्यु, आदि घटित नहीं हो पाएँगे। अपरिवर्तिष्णु होने के कारण आत्मतत्त्व निष्क्रिय हो जाएगा। टीकाकार जिनेश्वरसूरि ने इन विषय पर गंभीर दार्शनिक चिन्तन किया है[५]। उन्होंने टीका में यह कहा है कि यदि निष्क्रिय आत्मतत्त्व में भी आप क्रिया का स्वीकार करते हैं तब यह जिज्ञासा खड़ी होती है कि नित्य आत्मतत्त्व क्रम से क्रिया करता है या अक्रम अर्थात् युगपत् क्रिया करता है? यदि आप प्रथम पक्ष का स्वीकार करके यह कहें कि आत्मतत्त्व क्रम से क्रिया करता है तब एक और प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि वह कार्य करते समय कार्यान्तर करने में समर्थ है या असमर्थ है? उसको असमर्थ मानना तो आपत्तिजनक होगा चूंकि आत्मतत्त्व सर्वथा नित्य है। आपके मत में आत्मा एकरूप होने के कारण सर्वथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असमर्थत्व का दोष आयेगा । इससे बचने के लिए समर्थत्व का स्वीकार करेंगे तब तो कालान्तरभावी सकल कार्य एक ही क्षण में संपन्न हो जाएगा । अत: दूसरे क्षण में ही वह असत् हो जाएगा । इस भय से बचने के लिए आप के द्वारा आत्मतत्त्व को समर्थ होते हुए भी कार्य नहीं करता ऐसा मान लिया जाय तब तो वह विवक्षित कार्य भी नहीं कर पाएगा । इस आपत्ति से मुक्त होने के लिए यदि आप सहकारी कारणों का आश्रय लेने की चेष्टा करेंगे तब भी आपत्ति से छुटकारा संभव नहीं है । ऐसी अवस्था में यह प्रश्न उपस्थित होगा कि समर्थ होते हुए भी सहकारी कारणों के अभाव में कार्यान्तर सम्भवित नहीं है तो क्या सहकारी कारण कुछ उपकारक है या उपकारक नहीं है ? यदि यह माना जाए कि सहकारी कारण कुछ भी उपकार नहीं करते तब तो वन्ध्यापुत्र भी सहकारी कारण की कोटि में आ जाएँगे क्योंकि वह भी तो कोई उपकार नहीं कर सकता । यदि आप यह मान ले कि सहकारी कारण मुख्य कारण को उपकारक है तब दो विकल्प उपस्थित होंगे कि क्या सहकारी कारण भिन्न रहकर उपकार करते है या अभिन्न रहकर ? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर नित्य को वह अनुपकृत ही रहेगा । यदि दूसरे पक्ष का स्वीकार किया जाए कि सहकारी कारण अभिन्न रहकर उपकार करता है तब तो नित्य पदार्थ ही कार्य करता है ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा । इस स्थिति में *आत्मतत्त्व के नित्यत्व का ही नाश हो जाएगा । नित्य आत्मतत्त्व क्रम से कार्य नहीं कर सकता* है । अन्य विकल्प के अनुसार आत्मतत्त्व युगपत् क्रिया भी कर नहीं सकता क्योंकि कालान्तरभावी समस्त क्रिया एक ही काल में संपन्न हो जाने के कारण द्वितीयादि क्षण में आत्मतत्त्व निष्क्रिय ही हो जाएगा[६] । अत: नित्य आत्मतत्त्व में क्रम से या अक्रम से क्रिया सम्भवित नहीं है । इन आपत्तिओं के कारण ही आचार्य हरिभद्रसूरि ने दूसरी कारिका में स्पष्ट किया है कि ऐसा अपरिवर्तिष्णु आत्मा न मरता है, न मारा जाता है, इसके कारण हिंसा भी घटित नहीं होगी[७] । इस संसार में यदि हिंसा जैसी कोई क्रिया ही घटित नहीं होगी तब अहिंसा भी वास्तविक रूप से घटित नहीं हो पाएगी । अहिंसा के अभाव में अहिंसा के उपकारण सत्य आदि सभी धर्मसाधनों की सिद्धि भी नहीं हो पाएगी । जैन धर्म में यह माना गया है कि अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ व्रत है और अन्य सभी धर्म-व्रतादि उसके उपकारक साधन ही है । यथा :—

> एक्कंचिय इत्थ . वयं निद्दिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं ।
> पाणाइवाय विरमणभवसेसा तस्स रक्खट्ठत्ति[८] ॥

अर्थात् सर्व जिनेश्वरों ने प्राणातिपातविरमण अर्थात् अहिंसा को ही एकमात्र व्रत के रूप में निर्दिष्ट किया है बाकी के सभी व्रतों उसकी रक्षा के लिए ही है । अत: जब अहिंसा का ही अस्तित्व नहीं रहेगा तब उस पर आधारित अन्य व्रत भी असत् हो जाएँगे । इतना ही नहीं अहिंसाव्रत के पोषक यम, नियम आदि का पालन भी निरर्थक हो जाएगा । इस प्रकार आचारशास्त्रीय समस्याओं का कोई तार्किक समाधान प्राप्त नहीं हो सकेगा । आचार्यश्री और भी समस्या उठाते हुए कहते है कि आत्मतत्त्व को एकान्त नित्य मानने पर आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध सम्भवित नहीं है एवं आत्मा को सर्वगत स्वीकार करने पर संसार परिभ्रमण आदि भी अतार्किक हो जाएगा । ऐसी परिस्थिति में यह उपदेश देना कि धर्म के आचरण से ऊर्ध्वगति प्राप्त होती है, अधर्म का आचरण करने से अधोगति होती है, ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है आदि औपचारिक मात्र हो जाएगा । इस श्लोक की टीका में आचार्य जिनेश्वरसूरि ने **सांख्यकारिका** की प्रसिद्ध कारिका को उद्धृत किया है[९] यथा

> धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण ।
> ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्ध:[१०] ॥

> पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्रतत्राश्रमे रत: ।
> जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशय:[११] ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् धर्म से ऊर्ध्वगमन, अधर्म के कारण अधोगमन, ज्ञान से मोक्ष और अज्ञान के कारण बन्ध होता है । पच्चीस तत्त्वों को जानने वाला कोई भी आश्रम में रहता हो या फिर जटाधारी हो या मुण्डन रखता हो या शिखा उससे कोई फर्क नहीं, वह निश्चित ही मोक्ष प्राप्त करता है । अन्त में आचार्यश्री ने एक और आपत्ति उठाई है कि आप उक्त आपत्ति से बचने के लिए सुखदु:खादि का भोग शरीर करता है यह मान भी लो तब भी भोग आदि भी तो एक क्रिया है वह निष्क्रिय आत्मा में कैसे सम्भवित हो सकेगी ? इन सब आपत्तिओं से बचने के लिए आप यदि आत्मा में ही क्रिया का स्वीकार कर लेंगे तब तो अन्य मत का आश्रय ही हो जाएगा । इस प्रकार आत्मतत्त्व में एकान्त नित्यत्व का स्वीकार करने पर आचारशास्त्रीय एवं धर्मशास्त्रीय समस्याओं का युक्तियुक्त समाधान शक्य नहीं है । अत: यह मानना अनुचित है कि आत्मतत्त्व एकान्त नित्य है ।

एकान्त अनित्यवाद :–

१५वे अष्टक में आचार्यश्री ने बौद्ध दर्शन सम्मत एकान्त अनित्यत्ववाद का खण्डन किया है । बौद्ध दर्शन मूलत: क्षणिकवादी दर्शन है । वह सर्व पदार्थ को क्षणिक मानता है । इस कारण आत्मा अर्थात् चेतनतत्त्व भी एक क्षणस्थायी ज्ञानों का प्रवाह मात्र ही है । पदार्थ स्वयं ही क्षणस्थायी होने के कारण अपने आप ही नष्ट होता है अत: प्रस्तुत सिद्धान्त को नाश निर्हेतुकतावाद अर्थात् एक वस्तु के उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाने का कोई कारण सम्भव नहीं है । ऐसा स्वीकार करने पर एकान्त नित्यवाद में जो दोष दिखाए गए वही दोष यहाँ भी उपस्थित होंगे और उसका तर्कपूत समाधान सम्भव नहीं है । यथा किसी भी पदार्थ का नाश अन्य पदार्थ के द्वारा सम्भव नहीं है, हिंसा का भी कोई कारण सम्भव नहीं होगा[१२] । क्षणस्थायित्व की इस अवस्था में एक विशिष्ट परिस्थिति निर्मित होगी चूंकि एक वस्तु का एक समय विशेष ऊपर उत्पन्न होना किसी कारण पर निर्भर करता है । या तो हिंसा सर्वदा उपस्थित रहेगी या हिंसा कभी भी नहीं घटेगी । और क्षणिकवादी हिंसा आदि की वास्तविकता को सिद्ध करने के लिए यह कह दे कि एक उपस्थित क्षणप्रवाह से भिन्न क्षणप्रवाह को जन्म देनेवाला व्यक्ति हिंसक कहलाता है । इसको दीक्षित ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि जब एक शिकारी एक हरिण को मारता है और वह हरिण मरकर मनुष्यजन्म प्राप्त करता है तब वह शिकारी उस हरिण का हिंसक इसलिए है कि हरिण जीवन प्रवाह के स्थान पर मनुष्य जीवन प्रवाह को जन्म दिया[१३] किन्तु प्रस्तुत वादी के मत में क्षणों का यह प्रवाह एक काल्पनिक वस्तु है और काल्पनिक वस्तु के जन्म का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है । इस आपत्ति से बचने के लिए यह तर्क दिया जाय कि एक क्षणविशेष को जन्म देने वाला व्यक्ति हिंसक कहलाता है । तथापि यह तर्क अकाट्य सिद्ध नहीं होगा क्योंकि यह बात क्षणविशेष के तत्काल पूर्ववर्ती क्षण पर भी लागू पड़ सकती है । किन्तु तत्काल पूर्ववर्ती क्षण किसी प्रकार हिंसक नहीं है । यदि यह कहा जाए कि एक क्षणविशेष का उपादान कारणभूत क्षण भी हिंसक होता है तब ऐसी परिस्थिति निर्मित होगी कि संसार में कोई भी अहिंसक नहीं रहेगा क्योंकि अपने तत्काल उत्तरवर्ती क्षण के उपादान कारण तो सभी क्षण हुआ करते है । इतना ही नहीं इस अवस्था के कारण सभी शास्त्रों में जोरशोर से वर्णित एवं प्रतिपादित अहिंसा ही निरर्थक हो जाएगी और उसके अभाव में सत्यादि धर्म भी निरर्थक होंगे । अत: एकान्तक्षणिक आत्मतत्त्व भी युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होता ।

अनेकान्तवाद :–

आचार्य हरिभद्रजी का मानना है कि एकान्त नित्यवाद में जो दोष है वे सभी दोष एकान्त अनित्यवाद में भी समान रूप से उपस्थित होते है । दोनों सिद्धान्त में उठाई गई आपत्तिओं का कोई तर्कबद्ध समाधान संभव नहि है अत: इन सिद्धान्तों का स्वीकार करना उचित नहि है । उनका मानना है कि इन समस्याओं का समाधान केवल अनेकान्तवाद के आश्रय से ही होता है । आत्मतत्त्व कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य तथा शरीर से कथञ्चित् भिन्न एवं कथञ्चित् अभिन्न मानने पर सभी दोष टल जाते है । आत्मतत्त्व को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नित्यानित्यात्मक मानने से पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष एवं जन्म-मरण जैसी घटना युक्तियुक्त सिद्ध हो सकती है। धर्म के साधनभूत अहिंसा एवं अधर्म के साधनभूत हिंसा को भी सिद्ध कर सकते है। यथा व्यावहारिक हिंसा की क्रिया में दो व्यक्तिओं का अस्तित्व होता है। एक मारने वाला और दूसरा मारा जाने वाला व्यक्ति। हिंसा होते समय मारने वाले में पीड़ा-कर्तृता रहती है और मारे जाने वाले के शरीर का नाश होता है। मारने वाले के मन में मैं इसे मारुं इस प्रकार की पापभावना उत्पन्न होती है इसलिए हिंसा एक सकारण घटना सिद्ध होती है[१४]। हिंसा होते समय मारे जाने वाले व्यक्ति के अशुभ कर्म का उदय हो रहा होता है एवं मारने वाला व्यक्ति इस हिंसा में निमित्त अवश्य बनता है। वह दोषदूषित हिंसा मारने वाले व्यक्ति के लिए अशुभ कर्मबन्ध कराने वाली हिंसा, मारने वाले की हिंसा कहलाती है[१५]। इस दशा में सदुपदेश आदि के द्वारा क्लिष्ट कर्मों के नाश से मन में शुभ भावना का उदय होता है उससे वह हिंसा से निवृत्त हो जाता है। ऐसी अहिंसा स्वर्ग तथा मोक्ष का कारण बनती है। अहिंसा के सिद्ध होने पर उसके संरक्षण एवं उपकारभूत सत्यादि का पालन भी युक्तिसंगत ठहरेगा। अतः अहिंसा स्वर्ग, मोक्ष का कारण बनती है और स्मरण, प्रत्यभिज्ञा और संस्पर्श जैसी स्थिति के कारण आत्मा की कथंचित् नित्यता भी सिद्ध होगी। यह आत्मा शरीरप्रमाण है और धर्म के द्वारा ऊर्ध्वगामी तथा अधर्म के कारण अधोगामी बनती है। इस प्रकार संक्षेप में आत्मा के नित्यानित्य धर्म का स्थापन किया गया है।

जैन दर्शन संमत आत्मतत्त्व में अनेकान्तवाद का स्थापन एवं उसके आधार पर अहिंसा आदि की सिद्धि ही प्रस्तुत अष्टक का प्रमुख लक्ष्य है।

सन्दर्भ :

१. दीक्षित के० के० प्रस्तावना **अष्टक प्रकरणम्,** प्रका० ला० द० भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद, प्रथमावृत्ति, १९९९, पृ० ३।

२. दीक्षित के० के० वही. पृ० १२।

३. जेण विणा लोगस्स ववहारो सव्वहा न निव्वहइ। तस्स भुवणेक्कगुरूणो नमो नमो अणेगंतवाइस्स॥

४. अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम्। इति प्रमाणान्यपि ते कुवादि कुरङ्ग संत्रासन सिंहनादाः॥२२॥ अयोगव्यवच्छेदिका, हेमचन्द्रसूरि, स्याद्वादमंजरी, संपा० मुनिराज अजितशेखरविजयजी, प्रका० जैन संघ, गुन्टूर, द्वितीय आवृत्ति, सं० २०४८, पृ० २६१।

५. **अष्टक प्रकरणम्,** आचार्य हरिभद्रसूरि, टीकाकार जिनेश्वरसूरि, प्रकाशक : मनसुखभाई भगुभाई शेठ, अहमदाबाद, संपा० अज्ञाज्ञ, वर्ष अज्ञात, पृ० ५१-६०।

६. वही. पृ० ५२।

७. निष्क्रियोऽसौ ततो हन्ति हन्यते वा न जातुचित्। किञ्चित् केनचिदित्येवं न हिंसाऽस्योपपद्यने॥१४.२॥ **अष्टक प्रकरणम्,** ला० द० अहमदाबाद, विद्यामंदिर पृ० ४४।

८. **अष्टक प्रकरणम्,** आ० हरिभद्रसूरि, टीकाकार जिनेश्वरसूरि प्रका० मनसुखभाई भगुभाई, अहमदाबाद पृ० ५२।

९. वही. पृ० ५३।

१०. **सांख्यकारिका,** व्याख्याकार. डॉ० राकेश शास्त्री, संस्कृत ग्रन्थागार, दिल्ली १९९८, पृ० १२७।

११. **अष्टक प्रकरणम्,** टीकाकार जिनेश्वरसूरि, प्रका० मनसुखभाई भगुभाई, अहमदाबाद पृ० ५३।

१२ नाशहेतोरयोगेन क्षणिकत्वस्य संस्थितिः। नाशस्य चान्यतोऽभावे, भवेद्धिताऽप्यहेतुका॥१५.२॥ **अष्टक प्रकरणम्,** ला० द० भारतीय विद्यामंदिर, अहमदाबाद पृ० ४८।

१३. वही. पृ० ४९

१४. पीडाकर्तृत्वयोगेन देहव्याप्त्यपेक्षया। तथा हन्मीति संक्लेशाद् हिंसैषा सनिबंधनाः॥१६-२॥ वही. पृ० ५२।

१५. हिंस्यकर्म विपाकेऽपि निमित्तत्वनियोगतः। हिंसकस्य भवेदेषा दुष्टा दुष्टानुबंधतः॥१६-३॥ वही. पृ० ५३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org